

॥ सानृथ जीवन का श्रेयक्ष और प्रेयक्ष ॥



इस विश्वप्रपंच में ऐसा कोई प्राणी नहीं है। स्वयं ब्रह्मा से लेकर कीट-पतंग तक), जो दुःखों से बचने का यत्न न करता हो। विवेक दृष्टि से देखनेपर स्पष्ट हो जाता है कि दुःख अपने स्वरूप के अनुरूप नहीं बल्कि प्रतिरूप है। जो दुःख बीत गया, उससे छूटने का कोई प्रश्न ही नहीं। जो प्रतीत हो रहा है, वह बीतता जा रहा है। और जो आनेवाला है वह ज्ञात नहीं है। फिर दुःखों से छूटने का क्या अर्थ हुआ? फिर भी प्रश्न उठता है, क्या उसके निवारण का कोई उपाय नहीं है? देह के साथ ही दुःख का उदय होता है। रोग, वियोग, भोग, संयोग, अनुकूल-प्रतिकूल सब देह के संबंध से ही होते हैं। धर्म, कर्म, अवस्था, परिस्थिति, सब देह की ही निर्मिति है। 'मैं' और 'मेरे' के रूपमें देह इन्हें स्वीकार करता है। स्वयं को देह से अलग समझे। 'नाहं न मे' 'न मैं न मेरा' प्रश्न सरलता से हल हो जाता है। 'अहं' और 'मम' के रूप में देह को ग्रहण करना ही दुःख का उपादान है।

भगवान की इस क्रीडा सृष्टि में असंख्य जीवों के बीच मनुष्य भी एक देहेन्द्रिय विशिष्ट जीव है। उसे उपादेय वस्तुओं की प्राप्ति और हेय वस्तुओं के परिहार के लिए कर्मप्रेरणा होती है। वह भी जन्म, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय, और मृत्यु की श्रृंखला से आबद्ध है। मनुष्य सृष्टि के उन्नततर स्तर में विचरण करता है। मनुष्य को उसी उन्नततर स्तर पर प्रतिष्ठित कर समस्त प्राणियों की अपेक्षा उसे उच्चतर अधिकार प्रदान किया गया है।

“‘श्रेयश्य प्रेयश्च मनुष्यमेत्त तौ संपरीक्त्य विविनक्ति धीरः’”
(कठोपनिषद)

श्रेयस और प्रेयस का विवेक ही मनुष्य जाति का वैशिष्ट्य

है, (Moral Consciousness) मनुष्य के विकास के साथ ही साथ प्रेयस और श्रेयस की पुथकता का ज्ञान होने लगता है। उचित-अनुचित, यश-अपयश, इ. प्रकार की भेदबुद्धि स्वभावतः विकसित होने लगती है। जिसे हम पाप मानते हैं वह प्रेयस हो सकता है, देहेन्द्रिय तृप्ति के लिए आवश्यक भी माना जा सकता है, जीवन-धारणा के लिए कचित प्रयोजन भी माना जा सकता है, फिर भी मानव की सत्त्व-बुद्धि उसका अनुमोदन नहीं करती, उसे मर्यादा बद्द रखती है। मनुष्य में प्रेय-लिप्सा का अस्तित्व अनिवार्य माना जाता है। अतः सामान्य मनुष्य स्वाभाविक रूप से श्रेयस को दुर्लक्षित कर प्रेयस को अपनाता है। कोई बार दोनों को लेकर अंतःकरण में नैतिक और आध्यात्मिक द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है। और इसी कारण जीवन में अनेक समस्याएँ निर्माण होती हैं। उनके समाधान के लिए साधना की आवश्यकता होती है। प्रेयसरहित श्रेयस ज्ञान पर ही मनुष्य जीवन की समस्त मनुष्योचित साधनाएँ प्रतिष्ठित हैं।

परन्तु मनुष्य के मनपर सृष्टि के आकर्षणों का स्वामित्व, आपस्स्वकीयों के प्रति ममत्व तथा स्वयंशक्ति के प्रति अहंता इ. के कारण वह न प्रेयस के बंधनों का त्याग कर सकता है न श्रेयस आदर्शों को अस्वीकार कर सकता है। और फिर यथार्थ श्रेय का निर्धारण करना भी कठिन है। देहेन्द्रिय मनोवृत्तियों के विश्लेषण से प्रेयस का सहज निर्णय हो जाता है, परन्तु श्रेयस के संबंध में अनंत मतभेद हैं, अतः मानव-जीवन की प्रधान समस्या श्रेयस के यथार्थ स्वरूप जानना है।

मनुष्य में कर्मशक्ति, ज्ञानशक्ति और भोगशक्ति स्वभावतः

विद्यमान है। जगत के विविध विषयों के संपर्क में आकर, घनिष्ठ और व्यापक बनकर अनंत प्रकार की स्थिर वृत्तियाँ तैयार हो जाती हैं। जगत के भोग्य पदार्थों के संपर्क से देहेन्द्रिय-मन में अनुकूल और प्रतिकूल वृत्ति उत्पन्न करते हैं। अनुकूल वृत्ति प्राप्ति की दिशा में, और प्रतिकूल वृत्ति त्याग के लिए स्वभावतः हेय-और उपादेय का विभाग करती हुई भोग और त्याग में प्रवृत्त हो जाती है। उसकी कर्मशक्ति भी इसी तरह सुखप्राप्ति और दुःखनिवारण की दिशाओं में प्रवाहित होने लगती हैं। इस प्रणाली से श्रेयसप्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि यह पूरी प्रक्रिया अभाव जनित है। श्रेयस का अधिष्ठान पूर्ण समाधान है। अतः किस प्रकार के मान, कर्म, भोग और भावों का अनुशीलन करने से मनुष्यजीवन सम्यक रूप से सार्थक हो सकेगा? श्रेयस्कर ज्ञान, कर्म, भोग, और भाव का स्वरूप क्या है? तथा उनकी प्राप्ति कैसे हो? मानव बुद्धि के लिए ये चिरंतन प्रश्न बने ही रहते हैं।

मानव बुद्धि श्रेयस का शोध सर्वप्रथम, चिरपरिचित प्रेयस में करती है और इस सिद्धान्त पर पहुँचती है कि मानवी सुख ही वास्तविक श्रेयस है। सुख जितनी मात्रा में आंशिक और अस्थायी होता है उतनी ही मात्रा में वह अश्रेयस है। स्थायी और पूर्ण समाधान सुख के अतिरिक्त श्रेयस और कुछ नहीं है। तदनुकूल कर्म, ज्ञान तथा मनोवृत्तियों का अनुशीलन करना ही श्रेय मार्ग है। देहेन्द्रिय मन को आंशिक एवं क्षणिक सुख की मनोवृत्तियाँ ही रमणीय जान पड़ती हैं। अभिलिष्ट फल की प्राप्ति के अनुसार ऐसे व्यक्ति कर्म ज्ञानादि का मूल्य-निर्धारण करते हैं। इस सुख के लिए ऐश्वर्य का उपार्जन और धनसंचय की आवश्यकता प्रतीत होती है। अतएव मानवीय अपरिपक्व बुद्धि भावाधिष्ठित तात्कालिक सुख, अधिकतम् ऐश्वर्य-संचय तथा तद् जनित समाज में दृष्यमान प्रभुत्व, इन तीनों को ही जीवन-आदर्श के रूप में स्वीकार करती है। शास्त्रों में इन्हें 'अर्थ' और 'काम' कहा गया है।

भारतीय मनीषियों ने श्रेयस संबंधी इस धारा को आसुरी सम्प्रता कहा है। इससे मानवीय जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं होता। मनुष्य के अंतःकरण में प्रेयसरहित श्रेयस की अनुभूति जिस मूल स्रोत से आती है, जिसने मानव में श्रेयस का संधान भी मिल सकता है। वासनाधिष्ठित प्रेयस ने मनुष्य के देहेन्द्रियमन पर आधिपत्य जमा लिया है। इसी कारण श्रेयस का स्वरूप मानव, चित्त के गंभीरतम् प्रदेश में स्वतः प्रकाशित होनेपर भी मनुष्य स्थूल बुद्धि से उसे ग्रहण नहीं कर पाता। मनुष्य की विचारबुद्धि भी प्रेयस वासना के कारण कतुषित हो जाती है। मानव बुद्धि का मौलिक अधिष्ठान सात्त्विक होनेके कारण मानव, जीवन-पथ की प्रत्येक अवस्था में जिस प्रकार स्वभावतः देहेन्द्रियमन को आकर्षित करता है, उसी प्रकार अंतःकरण की श्रेयस शक्ति भी

मलिनाच्छादित प्रेयस शक्ति को अपनी ओर खींचना चाहती है। परन्तु प्रेयस की आकर्षण-प्रबलता के कारण केवल चित्त डांवाडोल होता है, विचलित होता है, द्वन्द्व निर्माण होता है। पूर्वसंस्कार, योग-साधना, स्व-अनुसंधान इ. के कारण जिनकी बुद्धि सम्यक होती है वे प्रेयस के प्रभाव से मुक्त हो जाते हैं। उनकी अंतर्दृष्टि के सम्मुख श्रेय का यथार्थ स्वरूप प्रगट हो जाता है। वे श्रेय-द्रष्टा कहलाते हैं, मुनियों की पंक्ति में उनकी गणना होती है। ऐसे मनुष्य किसी देश-विदेश या काल-विशेष में ही उत्पन्न होते हों ऐसी बात नहीं।

सुदूर अतीतकाल में प्राचीन भारत में ऐसे अनेक ऋषियों का अविर्भाव हुआ, उनके विशुद्ध अंतःकरण में नये का स्वरूप प्रकाशित हुआ। कर्म, ज्ञान, भाव और भोग को किस प्रकार नियंत्रित करने से यथार्थ कल्याण की प्राप्ति होती है, मनुष्यत्व सार्थक होता है, मनुष्य की देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि श्रेयस की अनुगमिनी होकर सम्यक रूप से विकसित होती है। विश्वप्रकृति के साथ मानव-प्रकृति का सामंजस्य स्थापित होता है। समस्त मानव-समाज में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना होती है। इस तरह अनेकानेक कल्याणकारी विविध विधान ऋषियों के चित्त में प्रकाशित हुए। ऋषियों द्वारा अनुभूत अंतरतम् में दृष्टि सनातन नादब्रह्म के प्रगटीकरण का नाम ही 'वेद' है। वेद ही सनातन सत्य है।

वेदों का अनुशासन किसी जाति, संप्रदाय, या देश-विदेश के ही निमित नहीं है, वह तो मनुष्य मात्र के लिए है। वैदिक धर्म ही 'मानव धर्म' है। वेद का अनुशासन किसी महापुरुष विशेष का आदेश नहीं है, किसी विशेष मतवाद के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं है, किसी साधन-प्रणाली का अंग भी नहीं है। मानव-प्रकृति में जो श्रेय ज्ञान निहित है उसी पर वेद-विधान प्रतिष्ठित हैं।

मानव की सम्यक बुद्धि सत्य, मंगल और सुख का आदर्श नया आकार ग्रहण करती है। यहीं वैदिक दृष्टि से संपन्न मनुष्य अपनी प्रकृति में जैसे एक चेतन नियामक की सत्ता और श्रेयोभिमुखी रक्षा का अनुभव करता है। उसे ज्ञात है जगत देवताओं द्वारा शासित धर्मविधान के अनुसार ही नियंत्रित हो रहा है। अतः जगत भी श्रेयस का ही अनुवर्तन कर रहा है। विश्वनियामक धर्म विधान में प्रेयस, श्रेयस का अनुवर्ती होता है।

मानव किस मार्ग में अपनी स्वाधीन कर्म शक्ति का प्रयोग कर जीवन को पूर्णतः कृतकार्य कर सकता है? वैदिक दृष्टिके अनुसार इसका उत्तर है-यज्ञनीति। अपने अपने अधिकार के अनुसार यज्ञानुष्ठान ही मानव-जीवन की कृतार्थता का पथ है। श्रेयस की सेवामें प्रेयस का उत्सर्ग ही यज्ञ है। विचारपूर्वक स्वेच्छा

से यज्ञब्रती जीवनयापन करना ही यथार्थ धर्म है। अब प्रश्न उठता है, क्या ऐसा कोई अंतिम सत्य है जिसे जानने पर और कुछ जानना शेष नहीं रहता?

मानव के सत्यानुसंधान में दो प्रबल प्रेरणाओं की अनुभूति होती है। एक है कारण ज्ञान की प्रेरणा और दूसरी ऐक्य ज्ञान की प्रेरणा। यह तत्वानुसंधान करनेवाली बुद्धि क्रमशः विकसित तथा संकीर्णता से मुक्त होकर असंख्य कार्यपरंपरा की समाष्टिरूप विशाल जगत के मूल कारण के अनुसंधान के लिए व्यग्र हो उठेगी। उसके शोधकार्य से उसे ज्ञात होता है कि इस असंख्य जड़ और चेतन पदार्थों के तथा उनके परस्पर घटनाक्रमों के मूल में एक 'सद्वस्तु' नित्य विद्यमान है। जगत के सभी पदार्थ उसी से उत्पन्न होते हैं। इस सत्तसत्ता के कारण ही जगत में गति है, स्थिति है, और अंत उसीमें लय है। वह सत्तावान स्वयंप्रकाश चैतन्य स्वरूप है। देशकालातीत है। अनन्त, अखण्ड, स्वराट, 'ब्रह्म' होने के कारण 'ब्रह्म' नाम से अभिहित है। सर्वव्यापी होने के कारण 'विष्णु' है। सर्व कालाश्रय होने के कारण 'महाकाल' है। श्रेयस दृष्टि से वही सर्व मंगलों का आदर्श, निःश्रेयस स्वरूप होने के कारण 'शिव' है। सारे देवता उस एक ब्रह्म की ही विभिन्न विभूतियाँ हैं।

श्रेयस तथा प्रेयस के निरपेक्ष निर्णय तथा उसके प्रकाश मार्ग के लिए परब्रह्म (अव्यक्त) स्वरूप में पूर्ण समर्पण अथवा भगवान (परब्रह्म का सगुण रूप) का अनुग्रह चाहिए।

यह अनुग्रह दो प्रकार से प्राप्त होता है। भगवान की इच्छा से तथा साधक की असीम भक्ति से। इन दोनों के संयोग से मनोमंदिर मणिमय हो जाता है। प्रेयस के मोह का सहज ही त्याग होता है और मानव जीवन के लिए श्रेयस ही एकमेव वांछित है यह बोधस्थिति स्थिर होती है। श्रेयस का सदैव यह लक्ष्य होता है कि साधक किसी भी परिस्थिती में परमात्म प्राप्ति से वंचित न रहे, परमात्म तत्त्व प्रत्येक परिस्थिति में समान रूप से विद्यमान है।

संसार साधन का क्षेत्र है। उपलब्ध हर सामग्री साधन रूप है। भोग और संग्रह (जो प्रेयस रूप हैं) के लिए कदापि नहीं। शास्त्रों के अनुसार परमात्मा की प्राप्ति में तीन दोष बाधक हैं - मल, विक्षेप, और आवरण। ये दोष प्रेयस वृत्ति से उत्पन्न होते हैं। भगवान कहते हैं, श्रेयस मार्ग को अपनानेवाला व्यक्ति श्रेष्ठ है। अन्य लोग उसके आचरण का अनुकरण करते हैं। यदि वह कुछ प्रमाण दे तो वह भी स्वीकार्य है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ३/२१ ॥ भगवद्गीता

- सौ. वासंती पट्टलवार.

४०१, 'ज्ञानेश्वर' दादासाहेब गायकवाड लेन,

जूना मुलुंड, मुंबई-४००४८०